॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्म धर्म

वर्ष : २
अंक : १

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
२४७२

आत्मा में कर्म की सत्ता बिल्कुल नहीं है

अपने वीतरागस्वरूप की प्रतीति के साथ जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त और निकाचित कर्म भी क्षार-क्षार हो जाते हैं।

चाहे जैसे निकाचित कर्म को तूने ही अपने विपरीत वीर्य से ही बाँधा है न? तब फिर जिस कर्म को तूने अपने विपरीत वीर्य से बाँधा है, उस कर्म को क्या तेरा अनुकूल वीर्य नहीं तोड़ सकेगा? तेरे पुरुषार्थ के सामने किसी भी कर्म को कोई शक्ति नहीं है। जैसे गाज के गिरने से पर्वत के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं; उसी प्रकार आत्मा के पुरुषार्थ से कर्म भी क्षार-क्षार हो जाते हैं।

आत्मा अपने पुरुषार्थ से क्या नहीं कर सकता? जिस कर्म के बंधन में तेरे विपरीत वीर्य ने काम किया है, उस कर्म को तेरा अनुकूल वीर्य क्यों नहीं छोड़ सकेगा?

किसी भी प्रकार का कर्म, आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता, किन्तु जब आत्मा स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, तब मौजूदा कर्म को निमित्त कहा जाता है। किन्तु वे कर्म, आत्मा का कुछ करते नहीं हैं। चाहे जिस क्षेत्र में और चाहे जिस काल में आत्मा जब पुरुषार्थ करेगा, तभी पुरुषार्थ हो सकता है।

(श्री धवलशास्त्र)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र १३

एक अंक पाँच आना

★ आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़ ★

ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः

लेखक - रामजीभाई माणेकचंद दोशी

'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्षः' बहुत छोटा-सा सूत्र है, किन्तु इस छोटे से सूत्र में गहरा मर्म निहित है, उस मर्म की जिसे खबर नहीं है, वह यदि उसके अर्थ करने में भूल करता है तो यह स्वाभाविक ही है।

उक्त सूत्र संस्कृत भाषा का है, इसलिये जो लोग मात्र मागधी भाषा के मूल सूत्र को ही मानते हैं और उसके अतिरिक्त अन्य किसी को तीर्थंकर प्रणीत नहीं मानते, उनके तो इस सूत्र के साथ कोई संबंध नहीं हो सकता फिर भी, कुछ लोग-दूसरे लोग इस सूत्र को अपनी मान्यता के लिये पुष्टिकारक और समर्थक मानकर अपनी अनुकूलता के अनुसार उसका अर्थ करते हैं। अब हमें यहाँ पर यह विचार करना है कि वह अर्थ क्या कहता है ? और वह ठीक है या नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा के ज्ञान और जड़ (शरीर) की क्रिया से मोक्ष होता है। वे इसके समर्थन में यह युक्ति देते हैं कि यह सूत्र द्विवचन में है, इसलिये यदि आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया यों दोनों नहीं लें तो द्विवचन नहीं हो सकता; इसलिए व्याकरण की दृष्टि से ऐसा ही अर्थ हो सकता है।

यह सच है कि यह सूत्र द्विवचन में है, किन्तु इससे 'शरीर की क्रिया' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता, इसके कारण इस प्रकार हैं—

व्याकरण की दृष्टि से गलत अर्थ

(१) शरीर एक द्रव्य नहीं है, किन्तु अनंत पुद्गलद्रव्यों से बना हुआ है, इसलिये एक आत्मा और अनंत पुद्गलद्रव्यों की क्रिया होने से अनंत द्रव्यों की क्रिया अनंत होगी, अर्थात् एक आत्मा का ज्ञान और अनंत पुद्गलों की जो अनंत क्रिया एक समय में होती है, उससे मोक्ष होता है, ऐसा अर्थ होगा। उक्त सूत्र में द्विवचन है, बहुवचन नहीं है; इसलिये यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से गलत सिद्ध होता है।

(२) जब शरीर का कार्य होता है, तब जड़ कर्मों का भी कार्य होता है। जड़कर्म के उदय का और शरीर का क्रिया के साथ संबंध है, इसलिये यदि जीव के आत्मज्ञान से और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता हो तो वास्तव में यह कहना चाहिये कि जीव के आत्मज्ञान, अनंत कर्म की क्रिया और शरीर की क्रिया इन तीनों से मोक्ष होता है। शरीर अनंत द्रव्यरूप है और जड़कर्म भी अनंत द्रव्य हैं, फिर भी यदि प्रत्येक को एक-एक द्रव्य मान ले तो भी तीन हुये, इसलिये भी उक्त अर्थ व्याकरण

की दृष्टि से गलत सिद्ध होता है। जहाँ तीन होते हैं, वहाँ संस्कृत में द्विवचन नहीं होता, किन्तु बहुवचन होता है।

(३) प्रत्येक जीव एक है, शरीर अनंत द्रव्यों का पिंड है। शरीर के एक पिंड की स्थूल दृष्टि से भी एक क्रिया नहीं होती। जैसे-जीव जब ध्यान में होता है, तब यदि शरीर की अवस्था की क्रिया का विचार करें तो पैर इत्यादि बैठने के आकार में हैं। कमर से ऊपर के भाग की क्रिया उससे एकदम भिन्न सीधी स्थिर है और हाथों की स्थिति उससे भी प्रथक् है। मुख की स्थिति बिल्कुल स्थिर या कुछ झुकी हुई भी होती है। इसप्रकार अलग अलग अवयवों की क्रिया भिन्न -भिन्न है किन्तु सूत्र में तो द्विवचन है और यह तो दो से अधिक प्रकार की क्रिया हुई। इस प्रकार भी व्याकरण की दृष्टि से गलत अर्थ सिद्ध हुआ।

(४) कुछ जीवों को दुष्ट जीव घानी में डालकर पेलते हैं और ज्ञानी साम्यभाव रखकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। वहाँ पर घानी में पेलने के कार्य में शरीर के अवयवों की क्रियाएं भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिये भी वहाँ द्विवचन सूचक 'भ्याम्' शब्द नहीं होना चाहिये। किन्तु बहुवचन सूचक शब्द होना चाहिये, इस प्रकार से भी उक्त अर्थ गलत सिद्ध होता है।

सैद्धांतिक दृष्टि से वह अर्थ गलत है

(१) प्रत्येक जीव एक चैतन्य द्रव्य है। मोक्ष, जीव की पूर्ण पवित्रत अवस्था है। मोक्ष का अर्थ है विकारी अवस्था से अलग होना। जीव स्वयं अपने द्वारा अपने से विकार करता है, इसलिये यदि वह स्वयं अपने द्वारा अपने में से विकार दूर करे तो वह दूर हो सकता है। यदि जीव, जड़ का कोई कार्य करे तो जीव, जड़ हो जाय। यदि शरीर, जीव का कोई करे तो शरीर पुद्गल अनन्त द्रव्य मिटकर एक चैतन्य द्रव्य हो जाय और यदि इस प्रकार द्रव्य का लोप होने लगे तो जीव का भी लोप हो जायगा; इसलिये जीव के आत्मज्ञान और शरीर की क्रिया से मोक्ष का मानना भ्रममात्र है।

(२) जीव में न तो पुद्गल व्याप्त हो सकता है और न पुद्गल में जीव ही व्याप्त हो सकता है; तब जो अपने में व्याप्त हैं और जीव में व्याप्त नहीं हैं—ऐसे अनंत पुद्गल अपनी क्रिया से आत्मा को किस प्रकार मोक्ष ले जायेंगे ? यह स्पष्ट है कि वे नहीं ले जा सकेंगे।

(३) यदि जीव और शरीर दोनों मिलकर मोक्ष का कार्य करें तो जीव और शरीर दोनों को मोक्ष क्षेत्र में जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता; मात्र जीव ही अकेला मोक्ष में जाता है। श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि में कहते हैं कि—

(गुजराती)

एज धर्मथी मोक्ष छे तू छो मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

(हिन्दी)

इसी धर्म से मोक्ष है तू है मोक्ष स्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप॥

यहाँ पर अकेले ही जीव को मोक्षस्वरूप कहा है, जीव और शरीर को मोक्षस्वरूप नहीं कहा।

(४) एक द्रव्य की जो पर्याय है, उसे द्रव्य स्वयं ही करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अस्तिरूप है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में नास्तिरूप है। शरीर अनंत द्रव्य हैं, उसका प्रत्येक परमाणु भी अपने अपने स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में अस्तिरूप है और शरीर के अन्य परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में नास्तिरूप है। अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इसलिये यह मानना बिल्कुल गलत है कि जीव के ज्ञान और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता है।

यथार्थ अर्थ और व्याकरण के साथ उसकी संगति

जीव में जब सम्यग्ज्ञान होता है, तब तत्काल ही सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती। सम्यक् ज्ञान कभी लब्धिरूप और कभी उपयोग रूप होता है। इसलिये ज्ञान सम्यक् भले हो किन्तु यदि पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई तो तब तक मोक्ष नहीं होता। वीतरागता जीवन की शुद्ध क्रिया है, उसे चारित्र की पूर्णता कहते हैं, उसी को ज्ञान की स्थिरता भी कहते हैं, इसलिये उक्त सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार होता है:—

(१) सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता से जीव को मोक्ष होता है।

(२) जीव को सम्यक्ज्ञान और उस सम्यक्ज्ञान की ज्ञान में पूर्ण स्थिरतारूप क्रिया होने से मोक्ष होता है।

(३) जीव को सम्यक्ज्ञान और पूर्ण वीतरागरूप अपनी पर्याय (क्रिया, परिणमन) से मोक्ष होता है।

(४) वहाँ जीव के दो गुणों की पूर्णता आती है, इसलिये व्याकरण की दृष्टि से उसमें द्विवचन सूचक 'भ्याम्' शब्द यथार्थ प्रयुक्त हुआ है।

(५) जहाँ सम्यक्ज्ञान होता है, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है; इसलिये उक्त सूत्र का यह अर्थ भी होता है कि "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।"

आत्मधर्म : वर्ष : २ : अंक : १ : क्रमांक १३ : वैशाख : : २४७२ :

अनेकांत क्या बतलाता है ?

[श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

(१) अनेकांत वस्तु को पर से असंग बतलाता है। असंगत्व की स्वतंत्र श्रद्धा, असंगत्व के विकास का उपाय है। पर से प्रथकत्व का होना, सो वस्तु का धर्म है।

(२) अनेकांत वस्तु को यों बतलाता है कि वह 'स्व अपेक्षा से है और पर अपेक्षा से नहीं है'। 'तू है' है, तो पर अपेक्षा से नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, उसे बदलने के लिये तू समर्थ नहीं है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शांति मेरे पास ही हैं।

(३) अनेकांत वस्तु को निजत्व की अपेक्षा से सत् बतलाता है। सत् को सामग्री की आवश्यकता नहीं है, संयोग की आवश्यकता नहीं है किन्तु सत् को सत् के निर्णय की आवश्यकता है कि 'सत्रूप मैं हूँ, पररूप नहीं हूँ।'

(४) अनेकांत वस्तु को एक-अनेक बतलाता है। एक कहते ही अनेक की अपेक्षा आ जाती है। तू अपने में ही एक है और अपने में ही अनेक है। तू वस्तु की अपेक्षा से एक है और गुण-पर्याय की अपेक्षा से अनेक है।

(५) अनेकांत वस्तु को नित्य-अनित्य बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही (पर्याय की अपेक्षा से) अनित्य है। इसमें जिस ओर की रुचि होती है, उसी ओर का परिणाम होता है। यदि नित्य वस्तु की रुचि हो तो नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य-पर्याय की रुचि हो तो क्षणिक राग-द्वेष होता है।

(६) अनेकांत वस्तु की स्वतंत्रता को उद्घोषित करता है। वस्तु, पर की अपेक्षा से नहीं है; स्व की अपेक्षा से है, जहाँ यह कहा वहाँ 'स्व अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तु को पर की आवश्यकता नहीं है। स्वत: अपने आप स्वाधीन परिपूर्ण है।

(७) अनेकांत एक वस्तु में दो विरुद्ध शक्तियों को बतलाता है। एक वस्तु में वस्तुत्व को उत्पन्न करनेवाली दो विरुद्ध शक्तियों के मिलकर ही तत्त्व की पूर्णता होती है। दो विरुद्ध शक्तियों का होना, सो वस्तु का स्वभाव है।

वस्तु की स्वतंत्रता

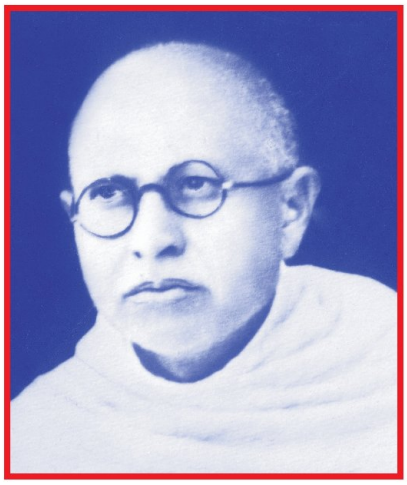

(परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का व्याख्यान)

आत्मस्वभाव की प्रतीति होने पर पराधीनभाव का नाश और स्वाधीनभाव का विकास होना, सो निर्जरा है। स्वाधीनभाव का विकास और पराधीनभाव का नाश किसके बल से होता है–यह जाने बिना निर्जरा नहीं होती है।

विकारभाव–पराधीनभाव क्षणिक है। यदि अविनाशी, निर्मल, ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाय तो क्षणिक का माहात्म्य दूर हो जाय। शरीरादि की वासना तो दूर हो ही जानी चाहिये। क्षणिक राग द्वेष जितना मैं नहीं हूँ—ऐसी प्रतीति होने पर, उसके प्रति का आकर्षण और उत्साह दूर हो जाता है किन्तु यह कब हो सकता है? तब जब कि उसे ऐसी प्रतीति हो जाय कि मैं अविनाशी और स्थिर हूँ और वह क्षणिक के लक्ष्य को गौण कर दे।

जब तक यह न ज्ञात हो जाय कि मैं राग–द्वेषविहीन ज्ञाता स्थिर आत्मा हूँ, तब तक स्वतंत्रता नहीं झलकती। ''एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता नहीं है'' इस प्रकार का निर्णय हो जाना ही स्वतंत्रता का कारण है। एक आत्मा को दूसरे की आवश्यकता होती है (दूसरे की आवश्यकता होती है यों मानना) यह परतंत्रता है। शरीरादिक ठीक हो तो अच्छा हो, इस प्रकार एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के आलंबन की इच्छा करे, सो पराधीनता है।

मैं निर्मल, ज्ञानज्योति, राग–द्वेषविहीन हूँ, मेरा सुख मुझमें है; इस प्रकार की श्रद्धा का होना ही स्वभाव की स्वतंत्रता प्रगट करने का उपाय है। इस स्वरूप की रुचि का जो भाव है, उसमें अनंत पुरुषार्थ है, विषय कषाय की रुचि नहीं। ''पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि सब परवस्तु हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव में ही आत्मधर्म और स्वतंत्रता है। आत्मा को पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं है''—ऐसा निश्चय हुये बिना धर्म और स्वतंत्रता प्रगट नहीं होती। ज्ञान के बिना स्वतंत्रता का निश्चय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि सबका अता–पता लगानेवाला ज्ञान ही है। अरूपी भाव का पता लगानेवाला ज्ञान है। पर से भिन्नत्व की प्रतीति का पता भी ज्ञान से मिलता है। समुद्र में आँखें बंद होने पर भी मोती को कौन पहचान लेता है? वह ज्ञान से मालूम होता है। ज्ञान

अर्थात् आत्मा, वह जानता है कि यह मोती (सीप) है या शंख ? दोनों के बीच भेद को जाननेवाला ज्ञान है। चैतन्य आत्मा से लक्ष्मी आदि पर है। पर से भिन्न आत्मा की स्वतंत्रता का पता यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं लगता और सम्यग्दर्शन भी प्रगट नहीं होता। बिना सम्यग्दर्शन के स्वाधीनता प्रगट नहीं होती। सम्यक्त्वी के नि:शंकता नाम का प्रथम आचार होता है, इसका विश्वास सो श्रद्धा है और जानना सो ज्ञान है। आत्मा का दर्शन-ज्ञान आत्मा में ही है। आत्मा के धर्म का संबंध आत्मा के साथ है, बाह्य के साथ नहीं।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं। धर्म का संबंध पर के साथ नहीं है, धर्म पर के साथ संबंध नहीं रखता। धर्म का अर्थ है—पर में निजत्व की मान्यता ज्ञान में न होने देना और अखंड चैतन्य के लक्ष्य से राग-द्वेष ढीले हो जाय सो ही आत्मा का धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा में है, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति के शुभभाव, अशुभभाव (संसार के पाप का परिणाम) घटाये भले जाते हैं किन्तु धर्म की दृष्टि में वह आदरणीय नहीं। धर्म तो मेरा ज्ञाता स्वभाव है, उस में आत्मा टिक नहीं सकता, तब शुभ में प्रयुक्त होना पड़ता है। जब तक जीव यह नहीं समझ लेता कि शुभभाव धर्म का कारण नहीं है, तब तक उसे धर्म की-आत्मा की-स्वतंत्रता की खबर नहीं होती। दूसरे का कुछ करने की जो वृत्ति है, सो विकार है।

''मैं चिदानंद, असंयोगी, आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप, निर्मल हूँ, मेरा और पर का कोई संबंध नहीं हैं'' इस प्रकार की प्रतीति होने के बाद स्वरूप में स्थिर होनेरूप पुरुषार्थ की अशक्ति में विषय कषाय के पापभाव से बचने के लिये शुभभाव आते हैं, वे भी विकार हैं। मैं उससे रहित ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसी दृष्टि हुये बिना किसी को कभी न तो धर्म हुआ है, न होता है और न होगा।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे गये हैं। उनमें से पहला नि:शंकित अंग है।

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंध मोह करान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टि र्ज्ञातव्यः ॥२९९॥

यह गाथा अपूर्व है, स्वतंत्रता का उपाय अनंतकाल में कभी नहीं किया था, ऐसा अपूर्व है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा ही है। आत्मा निश्चय से वास्तव में कर्म द्वारा बँधता है, यह मानना सो भ्रम है; ऐसा भ्रम सम्यक्त्वी के नहीं होता।

प्रत्येक वस्तु भिन्न है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। यदि एक पदार्थ दूसरे का कुछ भी करे तो दो पदार्थ एक हो जाय, इसलिये एक पदार्थ दूसरे का कुछ करता है, यों मानना सो बिल्कुल मिथ्यात्व है।

सत् त्रिकाल में कभी बदल नहीं सकता। यदि एक प्रथक् तत्त्व दूसरे तत्त्व के आधार से हो तो वह तत्त्व ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जब कि पर के साथ कोई संबंध नहीं है, तब यह मानना चाहिये कि एक क्षेत्र में रहने पर भी जड़ कर्म, आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराते क्योंकि वह भिन्न वस्तु है और आत्मा स्वतंत्र ज्ञानमूर्ति अलग वस्तु है। परवस्तु आत्मा को राग-द्वेष नहीं कराती, इस प्रकार जहाँ स्वतंत्र आत्मा का निर्णय हो गया, वहाँ मैं राग-द्वेषरूप नहीं हूँ क्योंकि अकेले तत्त्व में विकार नहीं होता। यदि अकेला तत्त्व विकार (राग-द्वेष) करने लगे तो वह उसका स्वभाव हो जाय, इसलिये मात्र अकेले में विकार नहीं होता।

आत्मा में परपदार्थ नहीं है। जिसे यथार्थ निर्णय हो गया कि ''मैं जुदा हूँ, इसलिये मुझे बंध नहीं है'' उसके बंध नहीं है। बंध तभी होता है, जब जीव अपने को दूसरे के साथ बँधा हुआ मानता है।

पहला सिद्धांत—'एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी नहीं कर सकता' यही वस्तु का स्वरूप है।

दूसरा सिद्धांत—'पर पदार्थ मुझे राग-द्वेष कराता है' इस प्रकार माना है, सो ही अनादिकालीन भ्रम है।

'मैं एक प्रथक् तत्त्व कर्मों के द्वारा बँधा हुआ हूँ' इस प्रकार का जो भ्रम है, सो वही अनंत अवगुणों की जड़ है। 'मैं पर से बंधा हुआ हूँ' इस प्रकार का जो भ्रम है, सो ही मिथ्यात्व है। मैं मुक्त हूँ, यों न मानकर 'पर के आश्रय के बिना मेरा चल ही नहीं सकता' इस प्रकार निश्चय कर लेना, सो अज्ञान और विपरीत बुद्धि है। कोई किसी की मदद नहीं करता, फिर भी अज्ञान से जीव वैसा मात्र मानता है।

आत्मा ज्ञाता है, उसमें कर्मबंध नहीं। मैं बँधा हुआ हूँ, इस प्रकार का भ्रम ज्ञानी के नहीं होता।

प्रश्न—वह बँधा हुआ नहीं है तो क्या मुक्त हो गया है ?

उत्तर—अनादि से आत्मा तो मुक्त ही है किन्तु ''मुझमें स्वतंत्रता है, यदि उसमें स्थिर हो जाऊँ तो स्वाधीन हूँ''—जिसे ऐसी प्रतीति नहीं है, उसने अपने को पराधीन माना है। 'मैं स्वाधीन हूँ', इस प्रकार की यथार्थ प्रतीति होने पर स्वाधीनता प्रगट होती है। वस्तु तो स्वतन्त्र है ही; जीव ने पराधीनता की मान्यता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं किया, भले ही इस बात को कोई स्वीकार

न करे, किन्तु त्रिकाल में भी यह बदल नहीं सकती। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी बात मान सकता है, किन्तु अन्य का कुछ भी कर नहीं सकता; यह समझ लेने के बाद अन्य का करने से रुक जायगा, सो भी नहीं है। पहले भी पर, पर के कारण से होता था, त्रिकाल में पर के कारण से पर होता है, यह निश्चित है।

'मुझे बंधन है, मैं पराधीन हूँ' इस प्रकार के संदेह को लेकर जीव को कभी भी सुख नहीं होता। पहले भ्रमपूर्ण जीवन की चिंता में जो विकार हुआ करता था, उसका सम्यग्दर्शन के द्वारा पहले छेद कर दिया कि कर्म के द्वारा त्रिकाल में जीव नहीं बँधता, वह यह जानता है।

आत्मा वस्तु है। उसका गुण उससे जुदा नहीं हो सकता। मात्र यह मान लिया है कि मेरे गुण पर में हैं, इसलिये मानता है कि कर्म का बंधन है और कहता है कि जब कर्म का बंधन नहीं होता तो मोक्ष क्यों नहीं होता। उससे यह पूछा जाता है कि तू बँधा हुआ है, यह तूने माना है ? अथवा कर्म ने तुझे बाँध रखा है ? जो बँधा है, वह अपने कारण से बँधा है, कोई भी तत्त्व दूसरे तत्त्व को नहीं बाँध सकता।

प्रश्न—मात्र आत्मा की बात करे तो जीव पागल नहीं हो जायगा ?

उत्तर—आत्मा अर्थात् सत्य-असत्य के विवेक को जाननेवाला; जिसके यह विवेक नहीं है, वह पागल है। जिसने विवेक को जाना है, वह पागल नहीं होता। एक स्वतंत्र तत्त्व आत्मा को पर से बद्ध मानना, सो स्वतंत्रता की हत्या है। एक तत्त्व 'है' यों कहना और फिर कहना कि 'पर से बँधा हुआ हूँ' तो यह दोनों परस्पर विरोधी हैं। यदि 'तू है' तो तेरे गुण तुझमें हैं, वे पर में नहीं चले गये; तेरे गुण परमाणु में या शरीर में नहीं है। तेरे गुण यदि तुझमें नहीं हैं तो तू लायेगा कहाँ से ? भगवन्! तूने अपनी महिमा को सुना ही नहीं है, केवल संसार की बातें की हैं, बहुत बड़ा भार ढोता फिरा लेकिन वह सब व्यर्थ है।

मैं एक तत्त्व पर से बद्ध हूँ, जहाँ यह माना वहीं यह मान लिया गया कि मैं स्वतंत्र तत्त्व नहीं हूँ, यही सर्व पाप का मूल है। कहा भी है कि —"पाप मूल अभिमान" इसका अर्थ यह है कि मैं—एक आत्मा, पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरी सहायता करता है, जिसने यह माना, उसे स्वतंत्र वस्तु की खबर नहीं है; इसलिये वह सबका खिचड़ा कर देता है, इसी का नाम अहंकार है और यही पाप का मूल है।

मैं पर से बँधा हुआ हूँ, इस प्रकार की जो मान्यता है, सो स्वतंत्र तत्त्व की हत्या करना है यही

सब पापों की जड़ है और इसमें से ही दुःख का वृक्ष फूलता फलता है। पर से कोई हानि-लाभ नहीं है। पर में जो मोह है और पर में मेरेपने की जो मान्यता है, सो ही हानि की जड़ है।

पैसे का मिलना लाभ और हानि का कारण नहीं है किन्तु यदि यह परवस्तु हो तो मेरे लिये बहुत अच्छा हो, इस प्रकार की मान्यता अर्थात् मैं स्वयं सत्व हीन हूँ—ऐसी मान्यता ही दुःख और मोह है।

प्रश्न—इसे समझ लेने के बाद तत्काल ही सब कुछ छोड़ ही देते होंगे ?

उत्तर—भीतर से विपरीतता छूट जाती है। अन्यथा समझे बिना तो (आत्मा की प्रतीति हुये बिना) अनंत बार साधु हो, त्यागी हो अथवा धर्मासन पर बैठे तो इस से कहीं धर्म नहीं होता। उच्चासन पर बैठने से धर्म नहीं होता। ऊँचा तो तब कहलाता है जब यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि मेरा आत्मा ऊर्ध्व स्वभावी है, और उसमें पर से हानि-लाभ होने की हीन मान्यता नष्ट हो जाय, यही ऊर्ध्व तत्त्व की प्रतीति है। वह यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि मान्यता के बदलते ही उसी क्षण सब विषय-कषाय भी दूर हो जायें। वहाँ तो मात्र पूर्ण स्वतंत्रता होने का कारण प्रगट हो जाता है।

पहले तो सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही था कि वह यह मान बैठा था कि मैं पर से बँधा हूँ इसलिये छूटने के लिये भी पर का उपाय चाहिये, किन्तु जहाँ मान्यता बदली कि मैं अपनी विपरीत मान्यता से बँधा हुआ हूँ, वहाँ स्वयं मान्यता को बदले बिना नहीं रहता। विपरीत मान्यता को बदल देना ही धर्म है। अरे भाई ! यह बात सब जगह नहीं मिलेगी—बारम्बार नहीं मिलेगी।

जिसने यह मान लिया कि आत्मा पर से बँधा हुआ है, वह छूटने का उपाय भी पर में ही किया करता है। यदि मैं—एक वस्तु हूँ तो वस्तु के गुण भी वस्तु में भरे ही हुये हैं, मात्र 'पर से गुण होता है' यों मान लिया था, सो यही भ्रमणा अपने गुणों को नहीं देखने देती। गुण और गुणी तो त्रिकाल हैं, मात्र अवस्था में भूल अर्थात् मलिनता का होना, सो संसार है और अवस्था में भूल का दूर हो जाना, सो मुक्ति है। स्वयं चिदानन्दस्वरूप ध्रुव है। करोड़ों रुपया देने पर भी यह एक शब्द नहीं मिल सकता।

मुक्त होने का उपाय-मैं मुक्त हूँ—ऐसी प्रतीति हुये बिना मुक्त होने का बल प्रस्फुरित नहीं होता और मुक्ति नहीं होती।

''मैं पर से बँधा हुआ हूँ'' ऐसे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषाय भाव को सम्यक्त्वी

छेद डालता है अपने को बँधा हुआ मान रखा है, यही मान्यता स्वतंत्र होने की रुचि नहीं होने देती। अनेक सादा और सरस सूत्र यहाँ कहा जाते हैं। यदि समझना चाहे तो आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है, अन्यथा अस्सी वर्ष का पंडित (मात्र पोथाओं को पढ़ा हुआ) भी नहीं समझ सकता।

अच्छा किसका करना है, जो हो उसका या जो नहीं है उसका? जो होता है, वह पर से बंधा हुआ नहीं होता। सम्यक्त्वी भ्रम को छेद डालता है। मैं पर से बँधा हुआ नहीं हूँ। एक तत्त्व पर से पराधीन नहीं हुआ। ''मैं निश्चय से कर्म से बँधा हुआ हूँ'' इस प्रकार की विपरीत मान्यता के चार पाया रूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को सम्यग्दृष्टि छेद डालता है।

मिथ्यात्व— मैं पर से बद्ध हूँ—ऐसा भ्रम होना, सो मिथ्यात्व है। इस भ्रम के दूर होने के बाद जो अविरति, प्रमाद, कषाय सम्यग्दृष्टि के होती हैं, उसमें उसकी बुद्धि निम्न प्रकार होती है। अविरति का अर्थ है आसक्ति; किन्तु यह मेरा स्वरूप नहीं है। अशक्ति की भूमिका में उसके राग-द्वेष होता है फिर भी वह यह नहीं मानता कि वह मेरा है।

कषाय— क्रोधादि को कषाय कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है और इसीलिये उसकी उसमें रुचि नहीं है।

प्रमाद— प्रमाद का अर्थ है—पुरुषार्थ की आसक्ति; यह भी मेरा स्वरूप नहीं है। यह राग मेरे पुरुषार्थ की निबलाई के कारण—वीर्य की हीनावस्था में होता है, वह वस्तु के स्वभाव में नहीं है। ऐसे निर्णय से वह रागादि को दृष्टि में से निकाल देता है। धर्मी का यह पहला चिह्न है, पहला लक्षण है। जहाँ यह नहीं है, वहाँ अंडाकार गोल शून्य ही समझना चाहिये।

आत्मा ने अनंत काल से किया क्या है?

'पर मेरा है और मैं पर का हूँ' इसी मान्यता को पुष्ट किया है और इसी मान्यता के कारण अनादि से राग-द्वेष भावों को करता रहा है। इसके अतिरिक्त इसी आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता।

मात्र विपरीत ही करता रहा है। जहाँ गुण होता है, वहाँ अवगुण करता रहा है। आत्मा में पर नहीं है, इसलिये पर, आत्मा का कुछ नहीं करता और न पर का आत्मा ही कुछ करता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में संक्रमण करे (तद्रूप परिणमन करे) यह त्रिकाल में कभी नहीं बनता। अभी तक विपरीत रुचि और राग-द्वेष किया है, इसलिये 'धर्म के लिये पहले विपरीत रुचि को बदलना होगा।'

आत्मा अनादि-अनंत शाश्वत् तत्त्व है। जहाँ उसकी रुचि हो गयी, वहाँ मुझे बंध होगा—ऐसी शंका नहीं होती। वस्तु अलग है किंतु मैंने ही बंधन मान लिया था, लेकिन वस्तु में बंधन नहीं है, मात्र मान्यता ही थी। दूसरे का करने के लिये—एक परमाणु मात्र बदलने के लिये—आत्मा समर्थ नहीं है। 'मैंने पर को दिया' इस प्रकार का अभिमान जीव करता है, किन्तु एक तत्त्व का दूसरे का कुछ कर सकता है, यह त्रिकाल में कभी नहीं बन सकता।

यह अपने घर की वस्तु है, घर की वस्तु महंगी नहीं होती। महंगा मान रखा है, यही मान्यता समझने नहीं देती। सम्यक्त्वी की सर्व प्रथम ऐसी बुद्धि होती है कि 'मैं अलग हूँ—स्वतंत्र हूँ।' अपनी स्वतंत्रता की एक बार हाँ तो कह। हाँ कहते ऐड़ी-चोटी का पसीना एक हो जायगा। अनादि की मान्यता को बदलने के लिये अनंत पुरुषार्थ चाहिये।

स्वतंत्र आत्मतत्त्व की प्रतीति के बिना कोई सच्चा त्यागी अथवा साधु नहीं हो सकता। कोई सच्चा साधु न हो, इसलिये कहीं खोटे साधु को साधु नहीं कहा जाता। मानसरोवर में मोतियों को चुगनेवाला हंस ही होते हैं, किन्तु यदि हंस न हों तो हंस की जगह कौवे को हंस नहीं कहा जाता। सम्यग्दृष्टि ने परवस्तु का पहले ही इन्कार किया है कि ''आत्मतत्त्व अपने स्वतंत्र स्वभाव में पर की सत्ता को बिलकुल नहीं घुसने देता।''

जगत के कार्यों में एक धंधे की बात में दूसरा नहीं पड़ता। हलवाई के काम में जौहरी अपना स्थान नहीं बताता अथवा कुम्हार के काम में वकील अपना सिर नहीं मारता। जिसका जो काम होता है, उसमें दूसरा हाथ नहीं डालता, किन्तु धर्म की बात में तो सभी निकल पड़े हैं कि 'यह ऐसा होता है और वह वैसा होता है।' यहाँ उससे कहते हैं कि अरे भाई! तुझे जगत की कला की कीमत है, वहाँ एक की कला में दूसरा सयान नहीं करता। लेकिन, यहाँ धर्म में सभी अपना सयान लगा देते हैं। लोगों ने धर्म को भाजीमूला जैसी वस्तु बना रखा है। क्या धर्म मुफ्त की वस्तु है? उसे अनंत काल में भी सुन पाना भी दुर्लभ है।

अरे, संसार के कामों में तो सब कुछ क्रमबद्ध होता है, वहाँ यदि हलुआ बनाना हो तो कुछ भी उल्टा-सीधा नहीं चल सकता, लेकिन धर्म में तो कहते हैं कि पहले क्रिया करो बाद में समझ लेंगे, किन्तु समझे बिना क्रिया किसकी? सर्व प्रथम सच्ची समझ करनी होगी। वह पहली समझने की क्रिया है।

''गुड़ अंधेरे में खाने पर भी मीठा लगता है'' यह सच है किन्तु पहले गुड़ पदार्थ का ज्ञान तो

करना होगा न ? सच्चे गुड़ को तो नहीं जाने और गोबर के गोले को मुँह में डाल ले वह मीठा नहीं लगेगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव तो शांत है, किन्तु उसके स्वाद के लिये पहले उसका ज्ञान करना होगा। सम्यग्दर्शन के बिना कदाचित् कोई कषाय मंद हो जाय किन्तु उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता।

एक बार स्वतंत्रता की बात को तो ला! तू स्वतंत्र है, स्वतंत्र होने के लिये 'मैं स्वतंत्र हूँ किसी पर से मैं दबा हुआ नहीं हूँ' इस प्रकार की प्रतीति का रटन किये बिना यथार्थ भान नहीं होता। इस बात से तीन काल और तीन लोक में कोई भी इनकार नहीं कर सकता। मुक्ति का मार्ग त्रिकाल में एक ही होता है, यदि कोई दूसरा मानता है तो वह उसके घर की मान्यता है।

ज्यों ज्यों मति की अल्पता और मोह उद्योत।
त्यों त्यों भव शंकता अपात्र अंतर ज्योत॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जिसकी मति में अल्पता है, ज्ञान में विवेक नहीं है; मोह, उद्योत अर्थात् पर के ऊपर जिसका भार है, मैं अनंत पूर्ण शक्तिरूप हूँ, इसका जिसे विश्वास नहीं; काल, क्षेत्र और कर्म मेरे लिये बाधक हैं, इस प्रकार जो पर के ऊपर डाल देता है, उसे भव की शंका होती है। "मैं अपने पुरुषार्थ से स्वतंत्र आत्मतत्त्व की मुक्ति पा सकता हूँ" ऐसी श्रद्धा जिसे नहीं होती और जिसके यह बात नहीं जमती कि राग को तोड़ देना मेरे हाथ की बात है, वह अपात्र अंतरज्योत है।

मैं आत्मतत्त्व एक क्षण में अनंत पुरुषार्थ करके अनंत काल की समस्या को हल कर सकता हूँ क्योंकि मैं अनंत वीर्य की मूर्ति हूँ, यह बात जिसके जम जाय, उसे अनंत संसार नहीं होता।

[समयसार प्रवचन में से]

सर्व प्रथम सम्यग्दृष्टि संदेह को चूर-चूर कर देता है, उसके बाद दूसरी बात होती है। स्वतंत्र स्वभाव में नि:शंकता हुये बिना स्वतंत्रता का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।

वस्तु तो वस्तु स्वभाव से जैसी है, वैसी ही त्रिकाल में रहती है। वस्तु में पराधीनता या बंधन नहीं है। वस्तु स्वाधीन है, किन्तु अपनी स्वाधीनता की खबर नहीं थी, इसलिये पराधीनता मान रहा है। किन्तु वस्तु पराधीन नहीं है।

सम्यक्त्व की आँखों के खुले बिना जगत् अनादिकाल से दबा चला आ रहा है। पहले तो

कान में सत्य बात का पड़ना अनंत काल में दुर्लभ है और यदि कभी कहीं सत्य कान में पड़ा भी तो बीच में विपरीत मान्यता के लक्कड़ डालकर सुनता है तो फिर वह समझे कहाँ से ?

'मेरे गुण में पर का प्रवेश नहीं है; मैं अपनी भूल से अटक रहा हूँ, मेरा स्वरूप तो सिद्ध समान है।' इस प्रकार की श्रद्धा के न होने से स्वभाव में नि:संदेहता नहीं आती। नि:शंकता के बिना स्वाधीनता प्रगट नहीं होती।

अनंत काल के अंधकार को दूर करने के लिये कुल्हाड़ी या फावड़े की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु दियासलाई के घिसने से अंधेरा दूर हो जाता है, इसी प्रकार अनादिकालीन अज्ञान को दूर करने के लिये बाह्य कर्म किया करे तो उससे अज्ञान दूर नहीं होता, किन्तु चैतन्यमूर्ति समुद्र ज्ञानप्रकाश से भरपूर है, उसकी श्रद्धा करके एकाग्रता के बल से केवलज्ञान का प्रकाश प्रगट होता है।

दियासलाई के सिरे पर प्रकाश प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, फिर भी मानता है वह किसी के कहने से अथवा जगत मानता है, इसलिये नहीं मानता किन्तु स्वानुभव है, इसलिये वह ऐसा मानता है; इसी प्रकार आत्मा चैतन्यज्योति ज्ञान का समुद्र है, इसलिये पहले स्वयं श्रद्धा करे और उसके बाद उसकी एकाग्रता के बल से परमात्मा हो जाता है।

टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा होने पर 'मैं पर से बँधा हुआ हूँ' इस भ्रम को दूर कर डालता है। स्वतंत्रता की श्रद्धा के बल के बिना स्वतंत्रता कभी प्रगट नहीं होती और जब तक पराधीनता दूर नहीं हो जाती, तब तक मुक्ति नहीं होती।

'मैं बंधा हुआ नहीं हूँ, मेरे स्वरूप में बंधन है ही नहीं।' इस प्रकार जिसे तत्त्व की निर्बंध दृष्टि प्राप्त है, वह क्रमश: निर्जरा करके मुक्त हो जायगा। पहले श्रद्धा चाहिये। ध्रुवस्वरूप के बल से आठों कर्मों का नाश करके सहजानंद परमात्मा (जैसा कि भीतर मौजूद है) प्रगट हो जाता है।

शुभाशुभवृत्ति आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा, शुभाशुभभाव जितना नहीं है, दयादि की वृत्ति क्षण-क्षण में नई होती है। उस वृत्ति के समय अज्ञानी के इस मान्यता के कारण बंधन होता है कि 'यह मेरे स्वरूप में है' और ज्ञानी 'मेरे स्वभाव में बंधन भाव नहीं है, विकार नहीं; अवस्था में अशक्ति के कारण यह वृत्ति आ जाती है'—ऐसी प्रतीति में पर का (शुभाशुभ भावों का) धनी नहीं होता, इसलिये स्वभाव का बल है, इसलिये वह पुरुषार्थ की अशक्ति का स्वामित्व नहीं होने देता।

मेरे स्वभाव में कमी अथवा विकार नहीं है, पुरुषार्थ की कमजोरी भी मेरे स्वभाव में नहीं

है; मात्र अवस्था में जो अशक्ति दिखाई देती है, वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति है, यह ज्ञानीजन जानते हैं।

ज्ञानी को टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमय होने के कारण कर्मबंध संबंधी शंका को करनेवाले अर्थात् मैं कर्मों से बँधा हुआ हूँ ऐसा भय (संदेह) उत्पन्न करनेवाले मिथ्यात्व आदि भ्रांतिभावों का अभाव होता है, इसलिये वह नि:शंक है अर्थात् 'मैं पर से बंध जाऊँगा'—ऐसा शंका कृत बंध उसके (ज्ञानी के) नहीं होता, किन्तु उसके निर्जरा ही होती है।

''व्यवहार'' क्या है ?

प्रश्न—शास्त्रों में अनेकस्थानों पर व्यवहार शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से एक अर्थ यह भी है कि अज्ञानी की पर के कर्तृत्व की जो विपरीत मान्यता (प्रतिभास) है, सो व्यवहार है।

प्रश्न—व्यवहार का जो अर्थ किया है, वह ठीक-ठीक समझ में आ सके इस प्रकार विशेष स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—वास्तव में जीव की प्रवृत्ति (क्रिया) और जड़ पदार्थों की प्रवृत्ति (क्रिया) बिल्कुल भिन्न है, किन्तु जीव जब तक यथार्थ ज्ञान प्रगट नहीं करता, तब तक स्थूल दृष्टि से देखता है; इसलिये उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होने पर भी एक-सी दिखाई देती है। अज्ञानदशा में जीव को जीव और जड़ पदार्थों का भेदज्ञान (यथार्थ ज्ञान) नहीं होता, इसलिये ऊपरी दृष्टि से [गहन विचार किये बिना] ऊपरी दिखाई देता है ऐसा वह मान लेता है और इसलिये वह यों मानता है कि जीव,

जड़कर्म को करता है और उसे भोगता है। श्री गुरु, भेदज्ञान कराकर जीव का सच्चा स्वरूप बतलाकर अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न—अज्ञानदशा में जीव कर्तृत्व के संबंध में कब से क्या मान रहा है ?

उत्तर—इस जगत में जीवों के अज्ञानदशा में ''परद्रव्य को और उसकी अवस्थाओं को मैं करता हूँ'' इस प्रकार परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार (कि जो अत्यंत अनंत पुरुषार्थ से दूर किया जा सकता है) अनादि संसार से चला आ रहा है।

प्रश्न—एक वस्तु (जीव) परवस्तु (जड़) का कुछ क्यों नहीं कर सकता? कृपया समझाइये।

उत्तर—प्रत्येक वस्तु निज से निज वस्तुरूप में (द्रव्यरूप में), निज से अपने प्रदेशरूप में (क्षेत्ररूप में-आकाररूप में) निज से अपनी अवस्थारूप में (कालरूप में) और स्वयं निज से अपने गुणरूप में (भावरूप में) है। और वह वस्तु, परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप में नहीं है। अब जो वस्तु अन्य वस्तु में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप से नहीं है, वह दूसरे का क्या कर सकती है। स्पष्ट है कि कुछ भी नहीं कर सकती।

जो-जो वस्तुएँ हैं, वे सर्वथा भिन्न ही हैं, वे प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों के क्षेत्र भिन्न ही रहते हैं। इस प्रकार अपने क्षेत्र में त्रिकाल भिन्न है तथा स्वद्रव्य में प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल भिन्न है और प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव में त्रिकाल भिन्न है। इसलिये कोई द्रव्य, गुण अथवा पर्याय पर का कुछ नहीं कर सकती।

प्रश्न—तब क्या यह मानना महा अहंकार है कि जीव परद्रव्य का कुछ कर सकता है ?

उत्तर—हाँ, ऐसा ही है। स्वयं दूसरे का कुछ कर नहीं सकता, फिर भी यों मानता है कि मैं करता हूँ; इसलिये इसे अहंकार कहा गया है और वह विपरीत मान्यता अनंत संसार का (दुःख का) कारण है और उसे दूर करने के लिये अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता है; इसलिये उसे ''महा'' कहा जाता है।

प्रश्न—इस महा अहंकार को अज्ञानांधकार क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—क्योंकि उसने स्वयं अपना यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है और बहुत बड़ी भूल कर रहा है, इसलिये उसे महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार कहा जाता है।

प्रश्न—तब तो यों हुआ कि महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार को अज्ञानी का प्रतिभास और उस प्रतिभास को व्यवहार कहा जाता है। क्यों यह ठीक है न ?

उत्तर—हाँ, यही बात है।

प्रश्न—इस विषय में जो शास्त्राधार हो, कृपया वह बताइये।

उत्तर—हाँ, शास्त्राधार है। श्री समयसार की गाथा ८४ से ८६ और उसकी टीका भावार्थ तथा कलश ५१ से ५६ तक पढ़कर विचार करने से वस्तु का स्वरूप यथार्थरूप में समझा जा सकता है।

प्रश्न—इस महा अहंकार को दूर करने का क्या उपाय है ?

उत्तर—जो यह महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार है, सो वह अज्ञानी का प्रतिभास है, इसलिये उसे व्यवहार कहा जाता है; इसलिये व्यवहार जैसा है, उसे वैसा जानकर उसका आश्रय छोड़ने से और यह निश्चय करके कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ नहीं कर सकता; अपने त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेने से वह महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार दूर हो सकता है।

प्रश्न—ऊपर आपने जो उपाय बताया है, उसे शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं ?

उत्तर—परमार्थ (सत्यार्थ, भूतार्थ निश्चयनय) के ग्रहण से वह अज्ञानांधकार दूर हो जाता है, यों शास्त्र परिभाषा में कहा जाता है।

प्रश्न—इस संबंध में कोई शास्त्राधार हो तो बतलाइये ?

उत्तर—श्री समयसार गाथा ११ टीका, भावार्थ तथा कलश ५५ उस का अर्थ, भावार्थ और संजीवनी नामक प्रकाशित पुस्तक इस विषय का आधार है।

प्रश्न—आप यह क्यों कहते हैं कि इस महा अहंकार को दूर करने के लिये अनंत पुरुषार्थ चाहिये।

उत्तर—''जीव पर का कुछ नहीं कर सकता'' यह सर्व प्रथम सुनते ही जीव भौंचक्का सा रह जाता है और ''यह मेरे लिये नहीं, अभी नहीं, यह तो ऊँची दशावालों के लिये और केवली के लिये हैं''—इत्यादि विपरीत कल्पना करके उसकी ओर रुचि नहीं करता, किन्तु अरुचि करता है; इसलिये उसे दूर करने के लिये अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता है यों कहा गया है।

जीव ने अनादिकाल से ऐसा भ्रम ग्रहण कर रखा है कि ''परद्रव्यों को और उसके भावों को [अवस्था को] मैं कर सकता हूँ'' और वह स्वयं अज्ञानी हो रहा है। श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे बारंबार कहते हैं कि—''तू आत्मस्वरूप है, तू पर का कुछ नहीं कर सकता इसलिये जल्दी जाग, सावधान हो जा''।

उकताये बिना यह जीव इस कथन को बारम्बार सुने और उसकी भलीभाँति परीक्षा करके सच्चा ज्ञान प्राप्त करे तो अज्ञान दूर हो जाता है। इसलिये इसे समझने के लिये अनंत पुरुषार्थ की आवश्यकता है, यह सिद्ध होता है। जो ऐसा पुरुषार्थ करता है, वह जान सकता है कि जीव, पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं हो सकता, फिर भी अज्ञानी वैसा मानता है, यह बताने के लिये शास्त्र में जीव को असद्भूत व्यवहारनय से कर्म का कर्ता कहा है, किन्तु सद्भूत व्यवहारनय से वह जीव अपने शुद्धभावों का ही कर्ता है।

केवली के अंतरपट का रहस्य :

शुद्धकारणपर्याय अथवा ध्रुवपर्याय

(१) 'द्रव्य का जो वर्तमान है, सो पर्याय है' जैसे द्रव्य अनादि-अनंत है, वैसे ही द्रव्य का वर्तमान भी अनादि-अनंत एकरूप प्रवर्त रहा है। कोई वस्तु बिना 'वर्तमान' के नहीं होती और वस्तु का वर्तमान अधूरा नहीं होता। इसलिये जैसे द्रव्य पूरा है, वैसे वर्तमान पर्याय भी पूर्ण है। द्रव्य ध्रुव है तो वैसे द्रव्य का वर्तमान भी ध्रुव है। उसमें उत्पाद, व्यय या परिणमन नहीं है। परिणमन न होने पर भी वह 'द्रव्य की पर्याय' है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती।

इसके अतिरिक्त जो अपेक्षावाली पर्याय है, वह परिणमन (उत्पाद-व्यय) सहित है। सिद्धपर्याय भी उत्पाद-व्यय सहित है, उसमें भी कर्म के अभाव की अपेक्षा होती है; इसलिये वह 'अपेक्षित पर्याय' है और जो पहले कही गई है, वह द्रव्य की पर्याय तो निरपेक्ष है और अनादि-अनंत एकरूप है। शुद्धपर्याय अनादि-अनंत नहीं है। द्रव्य तो सदा पूरी अवस्था से ही भरा हुआ है। जहाँ अधूरी पर्याय कही जाती है, वहाँ पर की अपेक्षा होती है।

यह बात बहुत गंभीर है, इसके लिये अंतर से बहुत बहुत मनन होना चाहिये। अंतर अनुभव का विषय है।

(२) जैसे आकाश, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में नित्य, शुद्ध और पर की अपेक्षा से रहित जैसा शुद्ध द्रव्य है, वैसी ही शुद्ध निरपेक्ष पर्याय भी वर्तमान है। उसी प्रकार जीवद्रव्य में भी निरपेक्ष और सदा शुद्ध ऐसी पर्याय वर्तमान है। यद्यपि उसे परिणमन कहा जाता है किन्तु (उत्पाद-व्ययरूप) परिणमन वास्तव में नहीं है। जैसा द्रव्य का ध्रुव है, वैसी ही पर्याय भी ध्रुव है। यदि ध्रुव पर्याय में परिणमन होता हो तो उसका अनुभव प्रगट होना चाहिये।

और फिर त्रैकालिक शुद्ध द्रव्य जब कि सामान्य है, तब सामान्य का विशेष भी होना ही चाहिये। त्रैकालिक द्रव्य का विशेष, द्रव्य का वर्तमान है। द्रव्य का वर्तमान ही ध्रुव पर्याय है। सामान्य और विशेष मिलकर समस्त द्रव्य होता है।

द्रव्यदृष्टि में पर्याय को गौण करने की बात आती है, वह पर्याय उत्पाद-व्ययवाली, पर की अपेक्षावाली पर्याय है। ध्रुव पर्याय तो द्रव्य के साथ त्रिकाल बनी रहती है। द्रव्य का वर्तमान अलग नहीं होता, इसलिये ध्रुव पर्याय गौण करने की बात नहीं है।

(३) पारिणामिकभाव द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों को लेकर पूर्ण है; इसलिये पर्याय का परिणमन भले कहलाये किन्तु वह ध्रुवरूप है, प्रगट रूप नहीं।

द्रव्यार्थिकनय का विषय मात्र पारिणामिक है। यदि निरपेक्ष पर्याय न हो तो वह वस्तु काहे की। जैसे सामान्य है, वैसे उसका 'वर्तमान'—'वर्तमान' सो विशेष है। द्रव्य का वर्तमान ध्रुव है।

पारिणामिकभाव अनित्य (पर्याय) से पकड़ा जाता है किन्तु पारिणामिक स्वयं नित्य है। पारिणामिक का प्रगट अनुभव नहीं होता, उस पर लक्ष्य नहीं जाता। समयसार की ३२० वीं गाथा में पारिणामिक को 'अक्रिय' कहा है। अर्थात् बंध-मोक्ष सक्रिय हैं, उससे रहित अक्रिय हैं।

पारिणामिक द्रव्यार्थिकनय का विषय है और अपेक्षित पर्याय पर्यायार्थिकनय का विषय है, यह दोनों मिलकर प्रमाण हैं।

(४) वस्तु और वस्तु के अनंत गुण त्रिकाल एकरूप हैं तथा गुण के आधार से जो पर्याय है, वह भी त्रिकाल एकरूप है। जैसे द्रव्य और गुण ध्रुवरूप है, वैसे ही यदि ध्रुवरूप पर्याय न हो तो द्रव्य-गुण पूर्ण और पर्याय अधूरी रह जाती है। उसमें वस्तु की ही पूर्णता नहीं होती, इसलिये वह ध्रुवरूप पर्याय है तो अवश्य किन्तु अब यदि वह ध्रुवरूप पर्याय, उत्पादरूप (प्रगटरूप) हो तो; वह

पर्याय त्रिकाल है, इसलिये मोक्ष भी त्रिकाल होना चाहिये और ऐसा होने पर संसार का अभाव हो जायगा। इसलिये वह ध्रुवरूप पर्याय है किन्तु वह उत्पादरूप अर्थात् प्रगटरूप नहीं है।

अहा! वस्तु! वस्तु तो एक समय में अनंत गुणों से परिपूर्ण है। वह ज्ञान उपयोग से परिपूर्ण है, दर्शन उपयोग से परिपूर्ण है, स्वरूप चारित्र से परिपूर्ण है और सहज स्वाभाविक आनंद से परिपूर्ण है ही।

वस्तु और गुण सामान्य हैं तो उसका विशेष भी होना ही चाहिये और वह विशेष, ध्रुव पर्याय है। विशेष सामान्य में से है निमित्त की अपेक्षा से नहीं। निरपेक्ष पर्याय को सिद्ध न किया जाय तो वस्तु परिपूर्ण सिद्ध नहीं होती और यदि अपेक्षित पर्याय को नहीं मानेंगे तो संसार-मोक्ष सिद्ध नहीं होंगे।

(५) चैतन्य समुद्र में आनंद की पर्याय 'डूबी हुई प्रगट ही' पड़ी है, इसलिये जब उस पर्याय का लक्ष्य करना चाहे तब हो सकता है अर्थात् कारणपर्याय तो त्रिकाल पड़ी ही है। जब कार्य को प्रगटाना चाहे, तब प्रगट हो सकता है। (कारणपर्याय, ध्रुवपर्याय, निरपेक्षपर्याय और द्रव्य का वर्तमान—यह सब शब्द एकार्थवाचक हैं।)

(६) वस्तु स्वरूप परमात्मा है। स्वरूप करना नहीं होता। केवलज्ञान इत्यादि जो पर्याय हैं, सो कार्य है; वह कारण में से प्रगट होता है। केवल अथवा मोक्ष को करना, सो स्वरूप नहीं है; स्वरूप तो त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन का विषय केवल या मोक्ष नहीं किन्तु स्वरूप है।

कारण-कार्य भी व्यवहार का विषय है, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। मात्र स्वरूप ही सम्यग्दर्शन का विषय है। भूतार्थदृष्टि में (सम्यग्दृष्टि में) एक ही प्रकार है, वस्तु स्वरूप ही ऐसा है।

स्व.....रू.....प

'धर्म' यह वस्तु बहुत गुप्त रही है वह बाह्य संशोधन से नहीं मिलेगी। अपूर्व अंतर संशोधन से यह प्राप्त होती है।

स्वरूप का त्याग करने के लिये तो कभी कोई मूर्ख भी नहीं चाहेगा और जहाँ केवल स्वरूप स्थिति है वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं। (श्रीमद् राजचंद्र)

श्री षट्खंडागम की जय हो

[लेखक —श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी]

सोरठ देश में गिरनार पर्वत की चंद्रगुफा में एक महामुनि श्री धरसेनाचार्य ध्यान करते थे। वे अंगों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे तथा वे विद्वान् और श्रुतवत्सल थे।

उनको ऐसा भय पैदा हुआ कि अब अंग श्रुत विच्छेद हो जायेंगे, इसलिये उनने महिमा नाम के नगर में धर्मोत्सव इत्यादि के लिये एकत्रित हुये दक्षिण देश निवासी आचार्यों को एक पत्र लिख भेजा। उस पत्र में लिखे हुय धरसेनाचार्य के वचनों को भलीभांति समझकर उन आचार्यों ने दो साधुओं को आंध्रदेश की वेणा नदी के तट से भेजा। वे साधु, शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ थे। अनेक प्रकार की अचल और निर्मल विनय से विभूषित थे। शीलरूपी माला के धारक थे। गुरु की प्रेषण आज्ञा से तृप्त थे; देश, काल और जाति से शुद्ध थे, समस्त कलाओं में पारंगत थे और उनने आचार्यों से तीन बार आज्ञा प्राप्त कर ली थी।

इन दो साधुओं को मार्ग में आते समय कुंद के पुष्प चंद्रमा और शंख के समान धवल और समस्त लक्षणों से परिपूर्ण धरसेनाचार्य की तीन बार प्रदक्षिणा देकर और नम्रता धारण करके आचार्य चरण में नत ऐसे दो बैलों को भट्टारक धरसेन ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न में देखा। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर संतुष्ट होकर धरसेनाचार्य बोले कि श्रुतदेवता की जय हो।

उसी दिन दक्षिण देश से भेजे गये वे दोनों साधु, धरसेनाचार्य के पास पहुँचे। उनने धरसेनाचार्य की पाद वंदना आदि कृति-कर्म किया। दो दिन के बाद तीसरे दिन उन साधुओं ने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि वे दोनों आपके पादमूल में क्यों उपस्थित हुये हैं। दोनों साधुओं के निवेदन कर देने के बाद भट्टारक धरसेन ने उन दोनों को आश्वासन देते हुये कहा कि 'कल्याणमस्तु'।

उसके बाद धरसेनाचार्य ने परीक्षा लेने का विचार किया, क्योंकि भलीभाँति ली गई परीक्षा हृदय में संतोष उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनाचार्य ने उन दोनों साधुओं को विद्यायें दी। उनमें से एक अधिक अक्षरवाली थी और एक कम अक्षरवाली थी। आचार्य महाराज ने वे दो विद्यायें देकर उन साधुओं से कहा कि आप लोग दो दिन का उपवास कर इन्हें सिद्ध करें।

जब उन दोनों साधुओं को विद्या सिद्ध हो गई, तब उनने विद्या की अधिष्टात देवियों को

देखा। उनमें से एक देवी के दाँत बाहर निकले हुये थे और एक कानी थी। उन दोनों साधुओं ने विचार किया कि देवताओं का स्वभाव विकृतांग होना नहीं है, इसलिये मंत्र संबंधी व्याकरण शास्त्र में कुशल वे दोनों साधु कम अक्षरवाली विद्या में अधिक अक्षर मिलाकर तथा अधिक विद्यावाली में से अक्षर निकाल कर मंत्र को शुद्ध रीति से पढ़कर पुनः विद्या सिद्ध करने में लग गये। इसलिये वे दोनों विद्या देवियाँ अपने स्वभाव और सुंदररूप में उन्हें दिखाई दीं।

उसके बाद भगवान धरसेनाचार्य के समक्ष उन दोनों ने योग्य विनय के साथ विद्या सिद्धि के संबंध में समस्त वृत्तांत निवेदन किया। उससे संतुष्ट होकर धरसेनाचार्य ने शुभतिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ग्रंथ (श्रुत) पढ़ाना प्रारंभ किया। इस प्रकार क्रमशः व्याख्यान करते हुये भगवान धरसेन ने उन दोनों को आषाढ़ शुक्ला ११ के दिन पूरा ग्रंथ सिखा दिया।

विनयपूर्वक ग्रंथ की शिक्षा समाप्त हो गई, इसलिये संतुष्ट हुये भूत जाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में एक की पुष्पों से तथा शंख और तूर्य जाति के वादों के नाद से बहुत भारी पूजा की। यह देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'भूतबलि' रखा। तथा दूसरे मुनि की उन भूत देवों ने पूजा की और उनके अस्तव्यस्त दांतों को एकसा-सुंदर बना दिया। इसलिये धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'पुष्पदंत' रख दिया। उसके बाद उन्हें वहाँ से जाने के लिये कहा गया, तब उनने यह विचार करके कि ''गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है'' अंकलेश्वर में जाकर वहाँ वर्षाकाल शुरु किया।

चातुर्मास पूर्ण करके आचार्य पुष्पदंत, जिनपालित के साथ वनवास-देश में गये और भूतबलि आचार्य द्रमिल देश में गये। उसके बाद आचार्य पुष्पदंत ने जिनपालित को दिक्षा दी और फिर बीस प्ररूपणा गर्भित सत् प्ररूपणा के सूत्रों को बनाकर और उन्हें जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि आचार्य के पास भेजा। आचार्य भूतबलि ने जिनपालित के पास बीस प्ररूपणांतगति सत्प्ररूपणा के सूत्रों को देखा और जिनपालित से यह ज्ञान किया कि पुष्पदंत आचार्य की आयु अल्प रह गई है। इसलिये उन्हें यह चिंता हुई कि महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का विच्छेद हो जायेगा, अतः उनने द्रव्य प्रमाण अनुगम से प्रारम्भ करके ग्रंथ रचना को पूर्ण किया। इस प्रकार षट्खंडागम के कर्ता श्री भूतबलि तथा पुष्पदंत आचार्य हैं।

इस प्रकार षट्खंडागम की रचना शास्त्रारूढ़ करके ज्येष्ठ शुक्ला ५ के दिन उन शास्त्रों को उपकरण मानकर चतुर्विध संघ के साथ भूतबलि आचार्य ने श्रुतज्ञान की पूजा की। तभी से जैनों में आज तक श्रुतपंचमी तिथि की प्रसिद्धि चली आ रही है और इस दिन जैन लोग श्रुत पूजा करते हैं।

श्री इंद्रनंदि ने श्रुतावतार में इस तिथि के संबंध में इस प्रकार कहा है कि :—

ज्येष्ठ सितपक्ष पंचम्यां चातुर्वण्य संघ समवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्याति तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्मात् श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥१४४॥

अर्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को चातुर्वर्ण्य संघ के साथ उस ग्रंथ को उपकरण मानकर क्रियापूर्वक पूजा की, इसलिये वह तिथि श्रुतपंचमी के रूप में भलीभाँति प्रख्यात हुई है और इसलिये आज भी जैनलोग उस दिन श्रुतपूजा करते हैं।

इसके बाद भूतबलि आचार्य ने उन षट्खंडागम ग्रंथों को जिनपालित के द्वारा पुष्पदंत आचार्य के पास भेजा। वे उन्हें देखकर अपने चिंतित कार्य को सफल हुआ जानकर अत्यंत प्रसन्न हुये और उनने चातुर्वर्ण्य संघ के साथ सिद्धांत की पूजा की।

इस शास्त्र की रचना लगभग विक्रम की पहली शताब्दी में हुई थी, इसलिये यह शास्त्र बहुत प्राचीन है। इस शास्त्र के भाव बहुत गंभीर हैं, इसलिये उन्हें अधिक स्पष्ट करने के लिये भी श्री वीरसेनाचार्य ने 'श्री धवला' नाम की टीका बनाई थी। वह टीका ७२००० श्लोक प्रमाण है। इसलिये अनुमान किया जाता है कि प्रति वर्ष ३००० श्लोकों के हिसाब से २४ वर्ष लगे होंगे। उसकी समाप्ति संवत् ८७१ (शक ७३८) के कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी ईस्वी सन् ८१६ की आठवीं अक्टूबर बुधवार के दिन प्रातःकाल में हुई थी।

इस टीका के साथ मूल आगम ग्रंथ ताड़पत्र पर लिखा हुआ मूड़विद्री में सुरक्षित है। भक्तजन वहाँ जाकर मात्र उस ग्रंथ के दर्शन ही कर सकते थे। सौभाग्य से अब वह मूल आगम टीका और हिन्दी अनुवाद के साथ मुद्रित हो रहा है और उसके सात भाग प्रगट भी हो चुके हैं।

उपर्युक्त कारण से ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) का दिन मुमुक्षु जीवों के लिये महा मांगलिक दिन है। इसलिये उस दिन भक्तिभाव से श्रुतपूजा करके श्रुतज्ञान की रुचि बढ़ाकर धर्म की वृद्धि करना चाहिये।

नि:शंकता

जिसका वीर्य भव के अंत की नि:संदेह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं होता और अभी भी भव की शंका में प्रवर्तमान है, उसके वीर्य में अनंतों भव करने की सामर्थ्य मौजूद है।

भगवान ने कहा है कि—'तेरे स्वभाव में भव नहीं है' यदि तुझे भव की शंका हो गई तो तूने भगवान की वाणी को अथवा अपने भवरहित स्वभाव को माना ही नहीं है। जिसका वीर्य अभी भवरहित स्वभाव की नि:संदेह श्रद्धा में प्रवर्तित नहीं हो सकता, जिसके अभी यह शंका मौजूद है कि मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ—उसका वीर्य, वीतराग की वाणी को कैसे निर्णय कर सकेगा और वीतराग की वाणी के निर्णय के बिना उसे अपने स्वभाव की पहचान कैसे होगी ? इसलिये पहले भवरहित स्वभाव की नि:शंकता को लाओ।

दृष्टिभेद

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों बाह्य में समान क्रियाएँ करते हैं। दान, भक्ति आदि एक से करते हैं। दोनों के शुभभाव है किन्तु आंतरिक दृष्टि में अंतर होने से दोनों के भिन्न-भिन्न प्रकार का पुण्य बंध होता है। मिथ्यात्वी के भीतर पुण्य की रुचि और कर्तापन है, इसलिये उसके पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है, और सम्यग्दृष्टि के भीतर पुण्य का नकार मौजूद है, उसके शुद्धभाव का ही लक्ष्य है, इसलिये ऐसा उत्कृष्ट पुण्यबंध होता है कि जिसके फल में सत्स्वरूप समझने का उत्कृष्ट निमित्त मिलता है। इस प्रकार क्रिया के समान होने पर भी, दृष्टिभेद से फल में भी भेद हो जाता है।

मिच्छामि दुक्कड़ं

लेखक - श्री रामजीभाई माणेकचंद दोशी

''मिच्छामि दुक्कड़ं'' क्या है यह जाने बिना यह जीव अनेक बार यह पाठ पढ़ चुका है कि ''अंध बनकर अज्ञान से किया जो अतिशय क्रोध सो सब मिच्छामि दुक्कड़ं'' किन्तु अब मात्र एक ही बार यथार्थ 'दुक्कड़ं' को जानकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके परम पद पाना शेष है, लेकिन वह यथार्थ 'दुक्कड़ं' कब समझा जायगा ?

(१) मिच्छामि दुक्कड़ं मागधी भाषा का पद है उसे संस्कृत में 'मिथ्या में दुष्कृत' (भवतु) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जायें।

(२) तब पहले यह समझना चाहिये कि 'दुष्कृत' क्या है ? सब से बड़ा पाप है मिथ्यात्व और इसलिये वह बहुत बड़ा 'दुष्कृत' है। जीव जिस कुल में जन्म लेता है, उस कुल में बहुधा कोई न कोई धर्म माना जाता है। कुल धर्म की उस मान्यता को घर में पुष्टि मिलती है। बड़ा होने पर धर्मस्थानक में (धर्मस्थलों में) जाने पर उस मान्यता को विशेष पुष्टि मिलती है और जब काम-धन्धे में लग जाता हैं, तब उसे यह विचार करने का भी समय नहीं मिलता कि कुलधर्म की मान्यता का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसलिये वह यह मानकर कि अपने घर के बड़े लोग और सगे-सम्बंधी तथा समाज के अन्य लोग जो धर्म क्रियाएँ करते हैं और उन्हें देखादेखी मैं भी करता हूँ, वही धर्म होना चाहिये और यही मानकर वह अपने जीवन को चलाया करता है। 'आत्मा का स्वभाव' धर्म है, वह सुनने का अवसर तो उसे बहुधा मिलता ही नहीं है। इस प्रकार वह अपने स्वभाव के घोर अज्ञान को पुष्ट किया करता है। यह घोर अज्ञान पहले नंबर का दुष्कृत है। इसलिये वह अज्ञान दूर करके अपने यथार्थ स्वरूप को जानने की आवश्यकता है उसे जाने बिना सच्चा सुख प्रगट नहीं हो सकता और यथार्थ 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं हो सकता।

(३) यथार्थ मिच्छामि दुक्कड़ं क्या है ? यह जानने के लिये एक पाठ नीचे दिया जाता है।

''अंध बनी अज्ञानथी कर्यो अतिशय क्रोध, ते सबि मिच्छामि दुक्कड़ं''

अर्थात् अंध बन करके अज्ञान से अतिशय क्रोध किया, वह सब 'मिच्छामि दुक्कड़ं।'

इस प्रकार के पाठ को बहुत से लोग बोला करते हैं किन्तु उसका यथार्थ अर्थ समझ कर वास्तविक 'मिच्छामि दुक्कड़ं' नहीं करते। इसलिये इस संबंध में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक है।

(४) ऊपर की पंक्ति में यह कहा गया है कि अज्ञान से अंध बना लेकिन अज्ञान को दूर करने के लिये यह जीव परिश्रम न करे और उक्त पंक्ति को बोला करे तो उससे न तो अज्ञान दूर होगा

और न मिच्छामि दुक्कड़ं ही होगा। जिसके परिणामस्वरूप यह जीव, अज्ञान से अंध बना रहता है।

स्वयं आधुनिक शिक्षा प्राप्त की हो और अच्छी सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ली हो, वह यह नहीं मानता कि मैं अज्ञानी हूँ, प्रत्युत अपने को अधिक सयाना मानता है। ऐसी स्थिति में उसका अज्ञान कहाँ से दूर होगा? जीव के यथार्थ स्वरूप के समझे बिना (चाहे जितनी लौकिक शिक्षा प्राप्त की हो तो भी) यह जीव अंशमात्र को भी सुखी नहीं रह सकता और समय-समय पर अनंत दुःख को भोगता है। बाह्य अनुकूलताओं को पाकर स्वयं निज को सुखी भली माने किन्तु उससे कहीं सच्चा सुख नहीं मिल जाता। क्योंकि आत्म-स्वरूप को नहीं जाननेरूप 'अज्ञान' तो मौजूद ही है और वही दुष्कृत है।

(५) 'कर्यो अतिशय क्रोध' इस पद में गंभीर मर्म छुपा हुआ है। आत्मस्वरूप की अरुचि ही जीव का 'अतिशय क्रोध' है। जब तक जीव उसे दूर नहीं कर देता, तब तक वह सुखी नहीं होता और उसके यथार्थ मिच्छामि दुक्कड़ं नहीं हो सकता।

(६) पर का मैं कर सकता हूँ; पर मेरा कर सकता है; पुण्य से धर्म होता है; पुण्य, धर्म में सहायक होता है; इस प्रकार की मान्यता संसार का बीज है, जब तक इस 'दुष्कृत' के प्रति हेय बुद्धि नहीं होती, तब तक पर के प्रति का जो ममत्व है, वह अभिप्राय में से नहीं छूट सकता; इसलिये दुष्कृत को मिथ्या करने के लिये आत्मा के सच्चे स्वरूप को स्वयं यथार्थ रीत्या जानना चाहिये।

(७) जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है, तभी उसके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन को प्रगट करना, सो मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण की सच्ची क्रिया है। (आत्मा और जीव इन दो शब्दों का एक ही अर्थ है, यह जानना चाहिये।)

(८) जब सम्यग्दर्शन को प्रगट करता है, तभी भूतकाल में किये गये भावकर्मों के निमित्त से आगत द्रव्यकर्मों को मिथ्या करनेवाला सच्चा प्रतिक्रमण होता है। सम्यग्दर्शन का प्रगट होना, सो मिथ्यादर्शन का प्रतिक्रमण है। सम्यग्दर्शन को प्रगट करके आत्मस्वरूप में लीन होकर चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव में स्थिर होना, सो मिथ्याचारित्र का प्रतिक्रमण है। यह यथार्थ प्रतिक्रमण वास्तविक 'मिच्छामि दुक्कड़ं' है। वह धर्म का यथार्थ अंग है यों समझना चाहिये।

(९) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन होने पर पूर्वकृत दुष्कृतं मिथ्या कैसे हो जाते हैं?

उत्तर—'मिथ्या' कहने का प्रयोजन यह है कि जैसे किसी ने पहले धन कमाकर घर में

रखा था, उसके बाद उसने धन का ममत्व छोड़ दिया, इसलिये उसके धन को भोगने का अभिप्राय नहीं रहा, ऐसी स्थिति में उसने भूतकाल में जो धन कमाया था, वह नहीं कमाये हुये के ही समान है; इसी प्रकार जीव ने पहले कर्मबंध किया था, उसके बाद जब उसने उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति का ममत्व छोड़ दिया और वह उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में बाँधा हुआ कर्म नहीं बाँधे हुये के समान मिथ्या ही है, इस भाव से पहले का दुष्कृत मिथ्या हो सकता है और इसी भाव को सच्चा 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कहा गया है।

(१०) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन को सर्व प्रथम क्यों प्राप्त करना चाहिये? हमें तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना ही कठिन मालूम होता है। यदि हम व्रत पालन करें, जप करें, तप करें, और घरबार छोड़कर चारित्र ग्रहण करें तो क्या धर्म नहीं होगा?

उत्तर—रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो सकता है; सम्यग्दर्शन के बिना नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना सारा ज्ञान, मिथ्याज्ञान है और सारा चारित्र, मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, जप आदि भी सब व्यर्थ है; इसलिये मनुष्य जन्म को पाकर सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये।

(देखो, प्रबोधसार श्रावकाचार, पृष्ठ ९)

(११) **प्रश्न**—तत्त्वनिर्णयरूप धर्म के लिये कौन योग्य है?

उत्तर—तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान-निर्धन, सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री इत्यादि सभी अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। जो पुरुष, आत्म हितैषी है, उसे तो सर्व प्रथम यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य ही करना चाहिये।

इसलिये जिसे सच्चा धर्मी होना हो, उसे ज्ञानी के और शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय करना चाहिये। किन्तु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और पूजा स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष आदि सभी कार्य करता है, उसके यह समस्त कार्य असत्य हैं। इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरा से गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव के द्वारा तत्त्वनिर्णय करना योग्य है।

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी की अमृतवाणी

१— कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है, दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं। कर्म—आत्मा एक क्षेत्र में एकत्रित होने पर भी कर्म, आत्मा को या आत्मा, कर्म को–कोई एक दूसरे को गति नहीं कराते। किन्तु दोनों अपने अपने स्वतंत्र उपादान कारण से जाते हैं।

२— शुभभाव उस समय मात्र के लिये अशुभभाव को दूर कर सकता है किन्तु वह जन्म–मरण को दूर नहीं कर सकता।

३— निमित्त का अर्थ है मात्र व्यवहार अर्थात् असत् (जैसे मार्जार को चीता कहना अर्थात् उपचारमात्र)।

४— आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानमय ही है फिर भी अनादि काल से अज्ञानरूप अशुद्ध मानता आया है लेकिन स्वरूप तो त्रैकालिक, शांत, अविकारी शुद्ध ही है। अवस्था मात्र को लेकर जितना विकार करता है, उतना (अवस्था में) अशुद्ध है। आत्मा में विकार करने की योग्यता है किन्तु वह स्वभाव नहीं है। यदि उस योग्यता को बदल डाले तो अविकारी स्वरूप ही है। वह जिस स्वरूप में है, उसने अपने को उसरूप में निज को नहीं देखा और पररूप मानता रहा, यही विकार है। माननेवाला यदि विपरीत मान्यता को बदल डाले तो शुद्ध अविकारी ही है।

५—आत्मा यदि एक बार पर्याय से शुद्ध हो जाय तो फिर कभी अशुद्धता नहीं हो सकती, इससे दो बातें निश्चित होती हैं कि आत्मा स्वभाव से अनादि–अनंत शुद्ध है किन्तु पर्यायदृष्टि से अनादि से अशुद्ध है और वह अशुद्धता दूर हो सकती है।

६—चौथा काल हो या पंचम काल, महाविदेह में हो अथवा भरत में या अन्यत्र, किन्तु सत्य को समझने के लिये तेरे पुरुषार्थ की आवश्यकता तो सर्व प्रथम ही होगी।

७—दृष्टि में ही संसार है और दृष्टि में ही मोक्ष। दृष्टि की भूल में संसार है और भूल दूर हो जाने पर मोक्ष। अखंड, चिदानंद, एकरूप, ध्रुव स्वभाव पर जो दृष्टि है, सो वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की निर्मल दशा का कारण है।

८—वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा निश्चय होने पर ''मेरी पर्याय मुझमें से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है'' ऐसी श्रद्धा हुई और इसलिये अपनी पर्याय के लिये किसी पर की ओर देखना नहीं रहा अर्थात् स्वद्रव्य पर ही दृष्टि जाने पर, अल्प काल में पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हो ही जायगी।

९—अरे मूर्ख! क्षणिक देह के लिये अविनाशी आत्मा को मत भूल! तुझमें भिन्नता का यहाँ तक भान होना चाहिये कि ''यदि देह का पतन कल होता हो तो भले ही आज हो जाय, देह मेरा स्वरूप है ही नहीं, मैं तो अशरीरी सिद्ध स्वरूप हूँ।''

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१५–६–४६
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड